

बौद्ध धर्म का समाजशास्त्र

सारांश

धर्म समाज शास्त्र के अध्येता फ्रांसीसी समाजशास्त्री इमाइल दुर्खेम ने धर्म की परिभाषा इस प्रकार की है, "एक धर्म पृथक् तथा निराली पवित्र वस्तुओं से सम्बन्धित विचारों और क्रियाओं की संगठित व्यवस्था है—विश्वास और क्रियाएँ जो उन लोगों को चर्च नाम के नैतिक समुदाय के साथ बाँधती हैं जो उनको मान्यता देते हैं।" इस परिभाषा से स्पष्ट है कि दुर्खेम धर्म को एक सामूहिक वस्तु मानता है जो विश्वासों और कार्यों के योग से बनता है और जिसके आधार पर समूह के सदस्य कुछ नैतिक आदर्शों के द्वारा परस्पर संगठित करते हैं।

धर्म नैतिकता की भाँति समाज में जन्म लेता है। सामूहिक जीवन में सहभाग और अनुशासन की वृद्धि करना, सामाजिक जीवन के अस्तित्व की रक्षा करना, समाज को पुनर्जीवन प्रदान करना और समाज में संगठन और एकीकरण करना धर्म के प्रकार्य हैं। इस प्रकार समाज धर्म का स्रोत भी है और उसका लक्ष्य भी। पवित्र और अपवित्र के द्विभाजन समाज के आधार पर ही हुआ है। जीवनवाद और प्रकृतिवाद के सिद्धान्त पवित्र और अपवित्र के विभाजन की व्याख्या करने में असमर्थ हैं। वास्तव में समाज को ही इस विभाजन का स्रोत मानकर धर्म की व्याख्या की जा सकती है। विशिष्ट अवसरों पर सामूहिक एकत्रीकरण में समूह के सदस्य मस्त होकर क्रिया में भाग लेते हैं। वे अपने व्यक्तिगत स्वत्व को भुलाकर समूह के साथ एकाकार हो जाते हैं। ऐसे अवसर पर जो क्रियाएँ होती हैं, जो वस्तुएँ एकत्रीकरण से सम्बन्ध रखती हैं और जो अनुभूतियाँ इस समय होती हैं वे सब निराली होने के कारण, मधुर स्मृतियों के रूप में सदस्यों के मन में संचित हो जाती हैं। वे दैनिक जीवन में उपलब्ध नहीं होती, अतः उन्हें पवित्र समझा जाता है। इस प्रकार धार्मिक संसार सामाजिक अन्तःक्रिया के विशिष्ट स्वरूप में उत्पन्न होता है।

मुख्य शब्द : पवित्र वस्तु, सर्वधर्म समभाव, सुख—दुःख, जगत्, निर्वाण।

प्रस्तावना

संस्कार और अनुष्ठानों के रूप में धार्मिक क्रियाएँ ऐसे साधन हैं जिनके द्वारा समय—समय पर समूह स्वयं को पुनर्संगठित करता है, अपना एकीकरण करता है। यह धार्मिक क्रियाओं का परोक्ष प्रकार्य कहा जा सकता है। इन क्रियाओं के माध्यम से व्यक्ति अपने देवता अर्थात् अपने समाज के साथ अपनी एकता को प्रकट करता है। धार्मिक क्रियाएँ स्वयं विश्वासों को शक्ति प्रदान करती हैं क्योंकि वे उस वास्तविकता को बार—बार प्रकट करती हैं जिस पर ये विश्वास टिके हुए हैं। धार्मिक क्रियाओं का वास्तविक उद्देश्य यह परोक्ष प्रकार्य है कि वे व्यक्ति को समाज के साथ एकीकरण करने का अवसर प्रदान करती हैं। इनका लाभ व्यक्ति और समाज दोनों को है। व्यक्ति अपने धार्मिक कर्तव्य की पूर्ति करके प्रत्यक्ष रूप से लाभान्वित होता है और समाज को इनसे शक्ति मिलती है क्योंकि यदि व्यक्ति इन क्रियाओं को छोड़ दे तो उसके विश्वास कमजोर हो जाएँगे अर्थात् समाज में उसका विश्वास दुर्बल हो जाएगा और सामाजिक एकता कमजोर हो जाएगी जो समाज के अस्तित्व की दृष्टि से अत्यन्त घातक बात होगी। किसी उच्च शक्ति स सम्पर्क की भावना व्यक्ति को पार्श्विक स्तर से ऊपर उठाकर उच्चता की ओर ले जाती है। इस प्रकार धार्मिक क्रियाएँ और विश्वास व्यक्ति के निरन्तर नैतिक विकास के लिए तथा समाज के अस्तित्व के लिए अत्यन्त उपयोगी तत्व हैं।

दुर्खेम के अनुसार संसार में जो कुछ पवित्र है, समाज उस सबका स्रोत भी है और सृष्टिकर्ता भी है। सम्राटों, राजाओं, संन्यासियों तथा अन्य उच्चताप्राप्त व्यक्तियों को भी सामूहिक सामाजिक शक्ति के प्रतीक समझा जाता है। इसी प्रकार वे विचार भी पवित्रता की श्रेणी में आ जाते हैं। जो सम्पूर्ण समूह के लिए मान्य होते हैं। संसार का कोई समाज ऐसा नहीं है जो कुछ आदर्शों में अतार्किक विश्वास नहीं रखता है। पश्चिमी जगत् प्रगति में विश्वास करता है, रूसी समाज



इन्दिरा श्रीवास्तव

एसोसियेट प्रोफेसर,
समाजशास्त्र विभाग
ई"वर शरण डिग्री कालेज,
इलाहाबाद, भारत

मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मकता तथा सर्वहारा की विजय में अतार्किक विश्वास रखता है, अमरीकी समाज समानता और स्वतंत्रता में अतार्किक विश्वास रखता है। इन विश्वासों पर सन्देह करना सामाजिक सत्ता का कोपभाजन बनना है।

अध्ययन का उद्देश्य

विचारणीय है कि यदि समाज धर्म की उत्पत्ति स्रोत है तो वह कौन-सा समाज है? अपूर्णता, विरोध, अन्याय और दगा तथा फरेब से भरा यह यथार्थ समाज जिसमें हम रहते हैं, आत्मसंयम, उत्साह और धार्मिक आदर्शवाद की भावनाओं को जन्म दे सकता है, इसमें सन्देह है। तब फिर धर्म की उत्पत्ति का स्रोत एक आदर्शसमाज हो सकता है जिसमें न्याय, सत्य और शान्ति का साम्राज्य हो—यह एक काल्पनिक समाज हो सकता है। दुर्खम इस समस्या अत्यन्त सरल समाधान प्रस्तुत करता है। उसके विचार से धर्म और आदर्श और यथार्थ दोनों का योग है। भौतिक और नैतिक बुराइयाँ केवल यथार्थ और अपवित्र जगत की ही सम्पत्ति नहीं है। पवित्र और दैवी संसार में भी इनका अस्तित्व है।

धर्म एक आदर्श भी है। आदर्श की प्रकृति वही है जो पवित्र की है। उसकी उत्पत्ति भी सम्बन्धित समाज के अनुभवों में होती है। आदर्शों का सृजन समाज के निर्माण और पुनर्निर्माण का अनिवार्य अंग है। आदर्श समाज और अपवित्र समाज केवल अमूर्त कल्पनाएँ हैं। हमारे मस्तिष्क में अपने समाज का जो काल्पनिक स्वरूप या चित्र होता है वही वास्तव में आदर्श समाज है। जब परम्परागत आदर्शों और भावी आदर्शों का टकराव होता है तो समाज अपने आदर्श स्वरूप का चित्रण करने में कठिनाई का अनुभव करता है। परम्परागत आदर्श समाज की विगत परिस्थितियों के परिणाम होते हैं और भावी आदर्शों की कल्पना वर्तमान सामाजिक दशाओं के संदर्भ में की जाती है। दुर्खम के विचार से समस्त सामाजिक संस्थाओं का आधार धार्मिक है।

“तात्विक धर्म सह-अस्तित्व का धर्म है। ‘सर्वधर्म समभाव’ उसकी प्रकृति है, वह हिंसा, द्रोह, अज्ञान, द्वन्द्व और पाखण्ड से मुक्त है। धर्म प्रकृतितः अखण्ड और दिक्कालातीत है। वह किसी विशिष्ट ‘देशकाल’ की परिधि में बन्द नहीं है। तत्विक धर्म विश्व-धर्म है। विश्वधर्म को रूढ़ियों और अन्धविश्वासों की एक बहुत मोटी परत ढके हुए हैं, जिसके नीचे सभी धर्मों की आत्मा क्रन्दन कर रही है। रूढ़ि और अन्धविश्वास विवेक और विकास के शत्रु हैं। जब धर्म पर इनका अधिकार हो जाता है तो छद्म रूप में समाज के टुकड़े-टुकड़ें कर डालते हैं। बौद्ध विचारक थित्तिर्ल ने धर्म को मानव-जगत स खींचकर समग्र विश्व में फैला दिया। “सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड धर्म का साक्षात् रूप और अभिव्यक्ति है। धर्म समस्त आत्म-अनात्म की विधायक वृत्ति है।

बौद्ध दर्शन साहित्य समीक्षा

बौद्ध दर्शन का प्रारम्भ जीवन के अपरिहार्य दुःख के दर्शन से होता है। बौद्ध दर्शन दुःख की प्रवृत्ति को समझकर उसकी निवृत्ति हेतु अग्रसर होता है और उसके इस प्रयत्न की चरम परिणति सम्बोधि में होती है। दुःख, दुःख समुदय, दुःख निरोध और दुःख निरोध-गामिनी

प्रतिपद् ही बौद्ध दर्शन के मूल और आधारस्तंभ हैं। बौद्धों में इस बात में सर्वसम्मति है कि इन चार आर्यसत्यां का उपदेश शास्ता ने स्वयं दिया था। आधुनिक काल के लेखक भी प्रायः इस मत् को स्वीकार करते हैं।

दुःख का स्वरूप

बुद्ध का प्रथम आर्यसत्य ‘दुःख’ है। अर्थात् इस जगत् में दुःख की निरंकुश सत्ता है। जीवन दुःखपूर्ण है। बुद्ध के अनुसार, “दुःख के विषय में आर्यसत्य यह है। जीवन दुःखदायी है, क्षीणता दुःखदायी है, रोग दुःखदायी है, मृत्यु दुःखदायी है, अप्रिय के साथ संयोग दुःखदायी है, प्रिय का वियोग दुःखदायी है और कोई उत्कट आकांक्षा जिसकी पूर्ति न हो सके वह भी दुःखदायी है। संक्षेप में पाँचों (शरीर, मनोवेग, प्रत्यक्ष ज्ञान, इच्छा और तर्क) ही समाष्टि रूप में दुःखदायी हैं।¹ धर्मचक्र प्रवर्तन नामक उपदेश में कहा गया है “अब दुःख संबंधी आर्यसत्य यह है जन्म लेना दुःख है, जरामरण भी दुःख है आदि।”²

दुःख का कारण

दुःख के कारण को समझाने के लिए बौद्ध दर्शन को मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और अध्यात्मविद्या-विषयक कल्पनाओं का सहारा लेना पड़ा। “दुःख के आदिकारण के विषय में यह आर्यसत्य है; यथार्थ में प्रबल तृष्णा ही है जिसके कारण बार-बार जन्म होता है और उसी के साथ इन्द्रियसुख आते हैं जिनकी पूर्ति जहाँ-तहाँ से की जाती है—अर्थात् इन्द्रियों की तृप्ति के लिए प्रबल लालसा अथवा सुखसमृद्धि की प्रबल लालसा ही दुःख का कारण है।”

बुद्ध के पूर्व ही उपनिषदों ने दुःख के कारण की ओर संकेतित कर दिया था। उनके अनुसार जो स्थायी (नित्य) है वह आनन्दमय है और क्षणभंगुर (अनित्य एवं अस्थायी) चीजें दुःखदायी हैं, “यो वै भूमा तदमृतम्, अन्यदातम।” जो नित्य एवं परिवर्तनशील है; वही सत्य, यथार्थ, स्वतन्त्र एवं सुखमय है, परन्तु यह जगत् जो जन्म, जरा और मरण से युक्त है, दुःख के अधीन है। उत्पत्ति और रोग आदि के अधीन होने से अनात्म में यथार्थ और सत्य के दर्शन नहीं हो सकते और इसी प्रकार जो नित्य है उसे रोग और उत्पत्ति आदि नहीं व्याप्त हो सकते। सभी वस्तुएँ अस्थायी होने के कारण दुःखप्रद हैं। उत्पत्ति के साथ ही वस्तु लुप्त हो जाती है, क्योंकि कारण-कार्यभाव का नियम समस्त सत्ता को नियंत्रित करता है। “हे राजन! तीन वस्तुएँ ऐसी हैं जो तुम्हें इस संसार में नहीं मिल सकती—अर्थात् वह वस्तु जो सचेतन अथवा अचेतन अवस्था में हो लेकिन जो क्षय एवं मृत्यु के अधीन न हो, तुम्हें नहीं मिलेगी; ऐसा गुण, एन्द्रिय अथवा अनैन्द्रिय, जो अस्थायी न हो, तुम्हें नहीं मिलेगा; और उच्चतम अर्थों में सत् नाम की ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसे हम सत् स्वरूप कह सकें।”³ और वह जो अस्थायी है, हे भिक्षुओं; वह दुःखदायी है अथवा सुखदायी? “दुःखदायी है प्रभो।” दुःख क्षणभंगुरता और नश्वरता से युक्त वस्तु है। दुःख को जन्म देने वाली इच्छाएँ हैं, क्योंकि मानव ऐसी वस्तुओं की इच्छा करता है जो अस्थायी, परिवर्तनशील और नश्वर हैं। इच्छित वस्तु का क्षणभंगुर एवं नश्वर होना ही निराशा, शोक-सन्ताप और दुःख का कारण है। सभी प्रकार के सुख भी अस्थायी हैं।

बौद्ध दर्शन की मूल स्थापना—कि जीवन दुःख है, परम्परा से उपनिर्दाओं से ही प्राप्त होती है।

बुद्ध के अनुसार जगत् में आत्मा को छोड़कर कुछ भी नित्य और स्थायी नहीं है, और आत्मा नाम की कोई सत्ता नहीं है। प्रत्येक वस्तु अनात्म है। “सब कुछ अस्थायी है, शरीर, मनोवेग, प्रत्यक्ष ज्ञान, संस्कार और चेतना, ये सभी दुःख हैं ये सब अनात्म है।” ये सभी चीजें आभासमात्र, निःसार और अयथार्थ हैं। जिसे हम आत्मा मानते हैं, वह भी निःसार आभास का एक अनुक्रम मात्र है और इतना तुच्छ है कि उसके लिए संघर्ष करना मूर्खता है। “जिसकी सत्ता के आधार पर जरा—जीर्णता एवं मृत्यु भी सम्भव हो सकती है और इसलिए जन्म के ऊपर ही ये निर्भर हैं।..... अज्ञान के दूर हो जाने पर विचार भी गान्त हो जाते हैं और अज्ञान के विनाश हो जाने पर उसका भी विनाश हो जाता है, विचारों के नाश हो जाने पर बोध या ग्रहण का भी नाश हो जाता है।” अज्ञान ही वह मुख्य कारण है जिससे तृष्णा उत्पन्न होती है। ज्ञान की प्राप्ति होने पर दुःख की परिसमाप्ति हो जाती है। अज्ञान एवं तृष्णाएक ही घटना के कल्पनात्मक एवं क्रियात्मक दो पहलू हैं। तृष्णा के सारहीन अमूर्तरूप को अज्ञान कहते हैं और अज्ञान का मूर्तरूप ही तृष्णा है। वास्तविक जीवन में दोनों एक है। “सामान्यतः अन्य सब भारतीय विचारकों के ही समान बौद्ध लोगों के मत में भी ज्ञान और इच्छा परस्पर में इस प्रकार निकटरूप से सम्बद्ध हैं कि दोनों में कोई भेद नहीं किया जाता। एक ही शब्द ‘चेतना’ का उपयोग विचारने एवं इच्छा करने के अर्थों में किया जाता है। विचार या तर्क के अभ्यास को हृदय या इच्छा को पवित्र करने के प्राथमिक उपक्रम के रूप में लिया जाता है। सत्य के प्रति अज्ञान समस्त जीवन की प्राग्भूत अवस्था है। क्योंकि एक स्पष्ट, तीक्ष्ण एवं आलोचनात्मक दृष्टि हमें यह अनुभव कराने के लिए पर्याप्त है कि इस संसार में पत्नी अथवा सतान, ख्याति अथवा प्रतिष्ठा, प्रेम अथवा लक्ष्मी कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जो प्राप्त करने योग्य हो। क्योंकि ये सब, यदि इनमें लिप्तम हुआ जाये तो उद्देश्य तक नहीं पहुँचा सकते।”

जो स्वभावतः दुःख रूप है वह उत्पत्ति और स्थिति में भी दुःखकारक होने के कारण परिणाम में भी दुःखकारक है। इसे ही दुःख दुःखता कहते हैं। विपरिणाम दुःखता का अर्थ है कि मनाप (मन को अच्छे लगने वाले) और अमनाप (मन को अच्छे न लगने वाले) सभी संस्कार दुःखरूप से दुःखप्रद हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सुखोत्पादक (उत्पत्ति और स्थिति में सुखकारक होकर भी परिणाम में दुःखकारक होने से) और दुःखोत्पादक (स्वभावतः दुःखकारक होने से) सभी संसार दुःखकारक हैं। अदुःखा और असुखवेदना भी संस्कार से दुःखकारक हैं। इसी से कहा गया है कि सभी संस्कार—दुःख होने से दुःखद हैं। इसी बात को स्पष्ट करते हुए ‘धम्मपद’ में कहा गया है कि सुख मानने से दुःख और भय उत्पन्न होता है।

दुःख से मुक्ति की अवधारणा

भगवान् बुद्ध का तृतीय आर्यसत्य है—‘दुःख निरोध’, अर्थात् दुःखों से मुक्ति संभव है— “अब हम दुःख के निवारणरूप आर्यसत्य का प्रतिपादन करेंगे। यथार्थ में यह मृत्यु ही है क्योंकि इस अवस्था में कोई वासना “।

नहीं रहती, यह एक उत्कट अभिलाषा रूपी तृष्णा का त्याग है— उससे विरहित हो जाना एवं उससे मुक्ति पा जाना, तभी इसके आगे उसे पास न फटकने देने का ही नाम निर्वाण है।” निर्वाण के वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में बुद्ध ने अभी भी कोई प्रत्यक्ष या स्वीकारात्मक उत्तर नहीं दिया। वे समझते थे कि यदि वे परमानन्द और ईश्वर कृपा के रहस्यों के बारे में उपदेश देना शुरू करेंगे तो यथास्थिति बनी रहेगी। इसलिए उन्होंने परमसत्य का मनुष्यों को साक्षात्कार कराना अपना लक्ष्य बनाया। उन्होंने ईश्वर, जीव जगत् के बजाय जीवन के दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति की ओर ध्यान दिया क्योंकि इसके अन्तर्गत सारी आध्यात्मिक समस्याएँ समाहित हो जाती हैं और मनुष्य के लिए यही ज्यादा कल्याणकारी लक्ष्य है। ‘निर्वाण’ का शाब्दिक अर्थ है बुझ जाना या ठंडा हो जाना। बुझ जाना विलोप हो जाने की ओर और ठंडा हो जाना ऊष्णतामय वासनाओं के नष्ट हो जाने की ओर संकेतिक करता है। “मन का मुक्त हो जाना ऐसा ही है जैसा कि एक ज्वाला का बुझ जाना।” परिभाषा के रूप में शब्दों के माध्यम से निर्वाण की उचित व्याख्या नहीं की जा सकती। बौद्ध धर्म यह कभी नहीं स्वीकार करता कि निर्वाण का तात्पर्य है—ईश्वर की कृपा से उसके साहचर्य की प्राप्ति, क्योंकि ऐसा मानने पर मनुष्य की जीवित रहने की इच्छा हमेशा बनी रहेगी। फिर भी निर्वाण से बुद्ध का तात्पर्य सम्भवतः तृष्णा के विनाश से था, जीवनमात्र के विनाश से नहीं। कामवासना, घृणा, अविद्या आदि का नष्ट हो जाना ही निर्वाण है। पैंतीस वर्ष की अवस्था में बुद्ध द्वारा बोधि या सत्यज्ञान की प्राप्ति से निर्वाण का यही आशय ध्वनित होता है, क्योंकि जीवन के शेष पैंतालिस वर्ष उन्होंने क्रियात्मक रूप से सक्रिय रहते हुए आर्यसत्त्यों का प्रचार करने और प्राणि मात्र को दुःखों से छुटकारा दिलाने की कोशिश में व्यतीत किये।

दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति (निर्वाण) के उपाय

बुद्ध का ‘दुःखनिरोध गामिनी—प्रतिपद’ या ‘दुःखनिरोध मार्ग’ रूपी चतुर्थ आर्य सत्य ही निर्वाण प्राप्ति का मार्ग है। बुद्ध ने इसी मार्ग का अनुसरण करके आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति अर्थात् निर्वाण को प्राप्त किया, तत्पश्चात् उन्होंने लोगों को इसका उपदेश इसलिए दिया, जिससे अन्य व्यक्ति भी निर्वाण प्राप्त कर सकें। इस मार्ग को ‘आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग’, कहते हैं जो गृहस्थ और सन्यासी, सभी के लिए है।

निष्कर्ष

टालकट पारसन्स^१ सरीखे समाजशास्त्रियों ने मानव समाज में। GIL प्रारूप को समाज की पूर्वापेक्षा के रूप में स्वीकार किया है।

Adaptation	Goal Attainment
Integration	Latency System

अनुकूलन लक्ष्य प्राप्ति एकीकरण, आर तनाव तिरोहन के रूप में धर्म। GIL के रूप में धर्म की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। धर्म और समाज का अन्योन्यासित सम्बन्ध सदैव ही रहा है। बौद्ध धर्म विश्व धर्म के रूप में व्यवहारिक जीवन में मानवीय मूल्यों की संस्थापना करने में एक सक्षम धर्म साबित हो सकता है। इतिहास गवाह है कि सम्राट अशोक ने कलिंग में विजय तो प्राप्त की

लेकिन हिंसा का मार्ग उसे हृदय विदारक लगा। उसने बौद्ध धर्म को स्वीकार किया। धर्म का प्रचार किया और अपने 40 वर्षों के शासनकाल में 31 वर्षों तक युद्ध नहीं किया⁷। सामाजिक जीवन का ऐसा कोई पक्ष नहीं है जिसकी उत्पत्ति का आधार धर्म में नहीं है। धर्म नैतिक जीवन का गर्भाशय है। आधुनिक समाज में परम्परागत धार्मिक विश्वासों और क्रियाओं की नैतिक सत्ता का लोप हो रहा है। अतः सामाजिक एकता संकट में पड़ गई है। दुर्खेम आधुनिक समाज के अस्तित्व की रक्षा के लिये नवीन परिस्थितियों के अनकूल ऐसी धार्मिक व्यवस्था की स्थापना के लिये व्याकुल प्रतीत होता है जो व्यक्तियों के नैतिक आचरण को नियमित और मर्यादित करने में सफल हो सके। आधुनिकता के मूल्यों की ओर अभिमुख मूल्यहीन समाजों में आवश्यकता है एक ऐसे धर्म की प्रतिस्थापन जो समाज में नूतन मूल्यों के साथ संगत स्थापित कर सके।

बौद्ध धर्म-एक विकल्प

विलियम जेम्स ने धर्म और निराशावाद का घनिष्ठ सम्बन्ध प्रस्तुत करते हुये लिखा है "सबसे सम्पूर्ण धर्म वे ही प्रतीत होते हैं जिनमें निराशावादी पहलू अधिक विकसित हैं।"⁸

यद्यपि अशोक की प्रवर्तकता में बौद्ध धर्म भारतीय उपमहाद्वीप का कुछ समय के लिये प्रभावी धर्म बन गया। अशोक स्वयं एक धर्मनिष्ठ बौद्ध हो गये और अपने शासन में लिखित आलेखों की महत्ता के अनुरूप उन्होंने यह प्रयत्न किया कि बौद्ध की एक शताब्दी पुरानी मौलिक परम्परा लिखित बन जाय। इसी अभिप्राय से उन्होंने अपने साम्राज्य के बाहर भी बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए कदम बढ़ाया।⁹ स्मार्ट¹⁰ ने बुद्धवाद को रहस्यवादी धर्म (Mystical religion) के रूप में प्रतिस्थापित किया। सधाटिस्सा¹¹ जैसे बौद्ध विचारकों का मत था कि बुद्ध ने दुःख कारण और निवारण तक अपने द"नि को सोमित रखा। मैक्स बेवर¹² ने बुद्धवाद को un political and anti political status religion के रूप में प्रतिस्थापित किया। यद्यपि रिज डेविड¹³ जैसे बौद्ध धर्म अध्येतता ने बौद्ध धर्म को एक बुक रिलीजन और नूतन धर्म के रूप में परिकल्पित किया है।

रिज डेविड¹⁴ जैसे बौद्ध धर्म अध्येतता ने आने वाले युगों में मानव जाति के कल्याण के लिए बौद्ध धर्म को एक आवश्यकता के रूप में स्वीकार किया है।

बौद्ध धर्म एक एक्शन रिलीजन के रूप में व्यावहारिक जगत में प्रतिस्थापित हो यही आज के समाज

की आवश्यकता है। सब प्राणियों के दुखों का नाश हो। इस कामना में समस्त प्राणिमात्र के प्रति महा करुणा का भाव है। उसकी प्राप्ति जीवन का परम लक्ष्य है। इसके लिये प्रयत्नशील मानव बोधिसत्व कहलाता है। यही उसकी चर्चा का आरम्भ और अधिष्ठान है। इसी में सब बुद्ध धर्म सन्निहित है।

अंत टिप्पणी

1. इमाइल दुर्खेम "द एलिमेन्टी फार्मस आफ रिलीजियस लाइफ", अनुवाद फ्रीप्रेस, न्यूयार्क पेज-47
2. यू थिथिला, "द पाथ आफ बुद्धा" पृ-29
3. महासत्तिपट्टानं सुत दीघनिकाय 2/9
4. ए. के० कुमारस्वामी "बुद्ध एण्ड द ग्रास्पेल आफ बुद्धिज्म", हार्पर एण्ड रो, न्यूयार्क 1984 पृ०-39-40
5. डा० राधाकृष्णन : "भारतीय द"नि भाग-1 प्रकाशक राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली संस्करण 1986 पृ 297-298
6. टालकाट पार्सन्स "द सोशल सिस्टम"
7. आर० एम० मैक डिमोट (एड) बेसिक राइटिंग्स आफ राधाकृष्णन (जैको पब्लिशिंग हाउस) बाम्बे पृ -220
8. विलियम जेम्स, 'दि वेरायटीज आफ रिलीजियस एक्सपीरियन्स डबलडे न्यूयार्क 1978, पृ 172
9. विशेन्ट ए. स्मिथ, 'अशोक' (आक्सफोर्ड : द क्लैड रोड न प्रेस 1901 पृ. 139
10. एन. स्मार्ट, रीजन एण्ड फेथ, लन्दन रोटलॉग एण्ड कीगन पाल, (1968)
11. एच. सदासटिसा, बुद्धीस्ट, एथिस: एशन्स आफ बुद्धीस्ट, लंदन, एलेन एण्ड अनविन 1970)
12. मैक्स वेवर, रिलीजन्स आफ इण्डिया (फ्रीप्रेस आफ ग्लेंको 1963) P.227
13. रिज डेविड, : "Buddhism is one of the so called book religions"..... Comparatively speaking, it is one of the very latest products of human mind." (Indian Buddhism, Rachna Prkashan, Allahabad 1972. Ibid p.11.)
14. रिज डेविड, : "and according to your own theory there will be a necessity for Buddhas in the future as much as there has been for Buddhas" in the past. Greater, better, nobler, than than the attainment of Arahatsips, must be the attainment of "Bodisatship from a desire to save all living creatures" in the ages that will come" (The key note of the "Great Vehicle" P. 259-60)
15. Ibid